आश्रम व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व : एक अध्ययन

डॉ0 रेनू गुप्ता
असि0 प्रोफेसर समाजशास्त्र विभाग
डी0 एस0 एन0 पी0जी0 कालेज, उन्नाव।
https://doi.org/10.61410/had.v18i2.151

सारांश :—आश्रम शब्द श्रम धातु से निकला है जिसका अर्थ होता है प्रयत्न या परिश्रम। इस प्रकार एक आश्रम तुलनात्मक रूप से श्रम का एक उल्लेखनीय भाग या कर्मस्थली है जिसमे व्यक्ति अपनी योग्यता व क्षमता के अनुसार किन्ही वैयक्तिक व सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति (या धार्मिक कर्तव्यों के निर्वाह) के लिए प्रयत्न करता है। आश्रम का अर्थ वैसे चाहे कुछ भी हो, जन समाज मे इसका अर्थ विश्राम स्थान के रूप मे ग्रहण किया गया।
शब्द संकेत :— अनन्त, अध्यात्मिक, सांस्कृ तिक, रचनात्मक।

उपनिषद्काल मे आर्य लोग जीवन को अनन्त यात्रा मानते है थे, जिसमे स्थान—स्थान पर विश्राम करके आगे बढ़ते थे अथवा आगे बढ़ने की तैयारी करते थे। यह यात्रा मोक्ष की ओर होती थी। लोगों के जीवन का चरम लक्ष्य था मोक्ष की प्राप्ति, जिसके बाद आवागमन के बन्धन से मुक्ति मिल जाती थी। प्रत्येक आश्रम एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसमे कुछ अवधि के लिए रूककर व्यक्ति आगे की यात्रा के लिए प्रस्थान करता था।[i]

वैदिक व्यवस्था मे मनुष्य की आयु 100 वर्ष मानी गई है। इन 100 वर्षों को चार बराबर भागों मे विभाजित किया गया है। ये चार भाग इस प्रकार है——

1. ब्रह्मचर्य आश्रम
2. गृहस्थ आश्रम
3. वानप्रस्थ आश्रम
4. सन्यास आश्रम।

इन्ही चार भागों को चार आश्रमों की संज्ञा दी गयी है। प्रत्येक आश्रम की अवधि 25 वर्ष मानी गई है। मनुष्य के जीवन के प्रथम 25 वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम, द्वितीय 25 वर्ष अर्थात् 50 वर्ष तक गृहस्थ आश्रम, तीसरे 25 वर्ष अर्थात् 75 वर्ष तक वानप्रस्थ आश्रम तथा अन्तिम 25 वर्ष सन्यास आश्रम के कहलाते है।[ii]

आश्रम व्यवस्था के इन चारों प्रकारों का विस्तार वर्णन निम्नलिखत है —

1. ब्रह्मचर्य आश्रम

यह आश्रम साधारणतः 25 वर्ष की आयु तक माना गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम, विद्या और शक्ति की साधना का आश्रम है। इसमे एक व्यक्ति ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विभिन्न विद्याओं मे निपुणता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मनुष्य का शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास इसी आश्रम मे होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम का आयोजन और महत्व विशेष रूप से द्विजों के लिए है जिन्हें विभिन्न वेदशास्त्रों और विद्याओं की साधना की अनुमति है। इस आश्रम मे यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार के पूर्ण होने पर द्विज प्रवेश करता है, जिसकी आयु सामान्यतः 8 से 16 वर्ष की होती है। प्रचीन ग्रन्थों के अनुसार एक ब्राह्मण साधारणतः 8 से 10 वर्ष, क्षत्रिय 10 से 14 वर्ष की और वैश्य 12 से 16 वर्ष की आयु के बीच उपनयन संस्कार के माध्यम से ब्रह्मचर्य आश्रम मे प्रवेश कर सकता है।

ब्रह्मचर्य जीवन तप और इंद्रिय संयम का जीवन है। मनु के अनुसार ब्रह्मचारी को गुरू के पास रहता हुआ इंद्रियों को वस मे कर तपवृद्वी के लिए नियमों का पालन करे। वह नित्य पूजन करे तथा

प्रातः एवं सायंकाल हवन करे। ब्रह्मचर्य भोजन के लिए गृहस्थों से भिक्षा प्राप्त करे किन्तु निम्न व पातकी लोगों से तथा साधारणतः अपने कुलबान्धव, जाति व गुरूकुल से भिक्षा प्राप्त न करे। वह प्रतिदिन भिक्षा माँगे परन्तु किसी एक का ही अन्न ग्रहण न करे और न ही भोजन का संचय करे। ब्राह्माचारी को गुरू की आज्ञा का पालन करना चाहिए।

2. गृहस्थ आश्रम

सामाजिक जीवन का आरंभ तथा अन्त इसी आश्रम से होता है। सामाजिक दृष्टिकोण से गृहस्थ आश्रम सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। साधारणतः ब्रह्माचर्य आश्रम के समाप्त होने यानि की 25 वर्ष की आयु तक व्यक्ति शरीरिक और मानसिक दृष्टि से इतना समर्थ हो जाता है कि वह जीवन मे अर्थ और काम की उचित साधाना और विभिन्न पारिवारिक व सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सके। सामान्यतः इस आयु तक व्यक्ति अपनी शिक्षा पूर्ण कर विवाह करके, गृहस्थ मे प्रवेश करता है। जीवन की यही 25 से 50 वर्ष का भाग गृहस्थाश्रम कहलाता है।

इस आश्रम मे प्रवेश करने के पश्चात व्यक्ति सन्तान उत्पन्न करता है। वह अपनी पत्नी तथा बच्चों का पालन–पोषण करता है। इस आश्रम मे रहकर व्यक्ति अपने माता–पिता की सेवा करता है। उन्हें सभी तरह से सन्तुष्ट रखता है। इस आश्रम मे व्यक्ति पितृ यज्ञ करता है। पितृ यज्ञ एक महत्वपूर्ण यज्ञ कहलाता है। गृहस्थ आश्रम मे व्यक्ति अनेक व्यक्तियों को भोजन कराता है। अनेक प्राणी गृहस्थ के सहारे जीवित रहते है। इसी कारण यह आश्रम सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इस आश्रम मे व्यक्ति के 2 महत्वपूर्ण कर्तव्य बताए गए है। प्रथम प्रकार के कर्तव्यों का सम्बन्ध धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षा से है। द्वितीय प्रकार के कर्तव्यों का सम्बन्ध विभिन्न ऋणों से उत्रऋण होना है। विभिन्न प्रकार के यज्ञ करके ही एक व्यक्ति इन ऋणों से उत्रऋण हो सकता है।

मनु के अनुसार जिस प्रकार सब लोग वायु के सहारे जीवित रहते है, उसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थाश्रम के सहारे निर्वाह करते है।[पपप] गृहस्थाश्रम के इस महत्व को देखते हुए मनु ने इसे सभी आश्रमों मे श्रेष्ठ निरूपित किया है।

यस्मात्त्रयोउप्याश्रमिणो ज्ञानेनात्रेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तत्याज्जेष्ठाश्रमों गृही।।[पअ]

3. वानप्रस्थ आश्रम

50 वर्ष की आयु पूरी करने के बाद वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करता है। यह गृहस्थाश्रम के बाद की स्थिति है। मनु के अनुसार गृहस्थाश्रम व्यतीत करने के पश्चात जब व्यक्ति के बाल पक जायें, चेहरे पर झुरियाँ दिखाई पड़ने लगें, उसके प्रौत्र उत्पन्न हो जायें तब वह विषयों से रहित होकर वन का आश्रय ले। यदि उसकी पत्नी उसके साथ जाना चाहे तो ले जाए अन्यथा उसे पुत्रों के उत्तरदायित्व पर छोड़ दें। उसे अपने साथ कोई भी गृह सम्पत्ति नही ले जानी चाहिए। अपने साथ अग्निहोत्र तथा तथा उसकी सामग्री लेकर अपने ग्राम का त्याग करे। जटा, दाढ़ी, मूँछ और नख धारण करे तथा प्रातः फल एवं मूल का सेवन करे। साधारणतः वानप्रस्थी को बस्तियों मे केवल भिक्षा के लिए ही जाना चाहिए। वर्षा के अतिरिक्त वानप्रस्थी को किसी ग्राम मे एक से अधिक रात्रि के लिए विश्राम नही करना चाहिए।

4. सन्यास आश्रम

सन्यास शब्द का अर्थ है– **'सम्यक रूप से त्याग'**

सम्यक न्यासः प्रतिग्रहाणां सन्यासः।'[अ]

लेकिन भौतिक पदार्थों का त्याग मात्र सन्यास नहीं है बल्कि यह राग–द्वेष, मोह–माया जैसे आन्तरिक भावों का त्याग भी है। भगवद्गीता (5.3) में भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सन्यासी वह है जो न किसी से द्वेष करता है और न ही स्नेह।

'ज्ञेयः स नित्यं संन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।'

महाभारत में ही लिखा है कि सन्यासी की दृष्टि में पाषाण और कांचन, शत्रु मित्र उदासीन आदि सब समान होते है।[अप] गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में सन्यास आश्रम का उल्लेख न होने की वजह से रीज डेविड जैसे कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इसका प्रचलन बुद्ध काल के बाद ही हुआ होगा लेकिन डॉ. रोमिला थापर ने सन्यास अथवा योग के इतिहास को प्राक्–इतिहासकालीन माना है तथा हड़प्पा संस्कृति से प्राप्त पशुपति की मुहर को इसका प्रारम्भिक चरण दिखाया है।

डॉ. रोमिला थापर ने सन्यास अपनाने वाले दो वर्गों का उल्लेख किया है–– एक वह जो व्यक्तिगत रूप से अपने को पूर्णतः अलग करके सन्यासी हो जाता था और दूसरा वह जो संसार त्यागियों के समूह में मिलकर रहता था। पहला वर्ग योगी का था और दूसरा वर्ग त्यागी का ऐसे त्यागी सन्यासी की श्रेणी से सम्बन्धित थे किन्तु पहले वर्ग के योगी समाज में विरले ही पाये जाते सन्यासी के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि इसमें व्यक्ति यज्ञोपवीत शिक्षा आदि चिह्नों तथा पंचमहायज्ञ के लिए स्वीकृत गृहाग्नि का त्यागकर गेरुआ (काषाय) वस्त्र धारण करता था। वह निरपेक्ष तथा एकाकी जीवन बिताये इन्द्रियों को विषयों से दूर करने के लिए अल्पभोजन तथा एकान्तवास करे दिन में केवल एक बार भिक्षा ग्रहण करें गाँव में एक दिन तथा नगर में पाँच दिन से अधिक न रुके, अहिंसा को अपनाते हुए सभी प्राणियों के परोपकार के लिए कार्य करे। इस तरह समूचा विश्व उसका अपना परिवार तथा आत्मा की खोज और मोक्ष की प्राप्ति करना उसका लक्ष्य बन जाता था।

आश्रम व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व

भारतीय समाज में आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के समाजीकरण का प्रमुख आधार रहा है। इस व्यवस्था का आधार यह विश्वास है कि व्यक्ति के मानसिक, नैतिक व आध्यात्मिक विकास के बिना समाज को संगठित नहीं किया जा सकता। इसका संक्षिप्त विवेचन निम्नांकित रुप से किया जा सकता है –

जीवन के समुचित विकास की भावनाः– आयु के बढ़ने के साथ–साथ शारीरिक शक्ति कार्यक्षमता अनुभव एवं मानसिक प्रवृतियों में परिवर्तन आता रहता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय विद्वानों ने जीवन को न केवल बाल्यावस्था, युवावस्था प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था में विभाजित किया, बल्कि प्रत्येक अवस्था के लिए विशेष आश्रम की व्यवस्था भी की है ताकि व्यक्ति के जीवन का समुचित विकास हो सके।

मानवीय गुणों के विकास एवं मानवतावादी समाज की स्थापना में योगदानः– आश्रम व्यवस्था में व्यक्ति में मानवीय गुणों के विकास में काफी योगदान दिया है। चारों आश्रमों में कर्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार से किया गया है त्याग, परोपकार, सहनशीलता, सामाजिकता, सरलता, उदारता, अध्यात्मिकता और बंधुत्व जैसे गुणों का विकास हो सके। इन सब गुणों के विकास के परिणाम स्वरुप समाज में ऐसे व्यक्ति निर्मित हो पाए जिन्होंने एक मानवतावादी समाज की स्थापना में काफी योगदान दिया हो।

व्यक्ति व समाज की पारस्परिक निर्भरता पर जोरः– व्यक्ति व समाज दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों का विकास संतुलित रूप से पारस्परिक निर्भरता को बनाए रखने पर ही निर्भर करता है। व्यक्ति प्रत्येक आश्रम में अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए यह भली–भांति वह केवल स्वयं वह अपने परिवार के लिए ही नहीं जीता। यहां वह स्पष्टतः जान लेता है कि समाज ने भी पग–पग पर उसके विकास में योगदान दिया है। अतः समाज के प्रति उचित रीति से अपने दायित्वों को निभाने का भाव उसमें जागृत होता है।

बौद्धिक विकास, ज्ञान के संग्रह एवं प्रसार तथा समाज की सांस्कृतिक परंपराओं को पीढ़ी दर–पीढ़ी हस्तांतरित पूर्ण योगः– इस व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति अपने जीवन के प्रारंभ से अंत तक किसी न

किसी रूप में ज्ञान को अर्जित करता है तथा अपना बौद्धिक विकास भी करता है। गुरु के आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी व्यक्तिगत संपर्क से बहुत कुछ सीखता रहा है। वेदों तथा अन्य धर्म ग्रंथों के अध्ययन से न केवल बालक का बौद्धिक नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास होता रहा है बल्कि ज्ञान का संग्रह और समाज के सांस्कृतिक परंपराओं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरण भी हुआ है।

सामाजिक नियंत्रण के रूप मेंः— इसके अंतर्गत व्यक्ति के कर्तव्य एवं दायित्व इस प्रकार निश्चित किया गया था कि उसके व्यवहारों की मान्यता प्राप्त तरीकों के विभिन करने की साधारणता संभावना ही नहीं रहती। आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति का चरित्र निर्माण ही कुछ इस प्रकार का होता था कि वह समाज विरोधी या अनुचित कार्य कर ही नहीं पाता था।

व्यक्तिवादीता के दोषों से समाज को मुक्त रखने एवं समाज कल्याण में योगः— व्यक्तिवादीता को प्रोत्साहित और समाज कल्याण की अवहेलना करके कोई भी समाज अधिक समय तक सुसंगठित व सुरक्षित नहीं रह सकता। अतः भारतीय विचारकों में आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार से किया कि समाज व्यक्ति वादिता के दोष से मुक्त रहे। यहां मानव सेवा के अलावा अन्य प्राणियों के भरण—पोषण का दायित्व भी व्यक्ति पर रहता था।

व्यवहारिक एव उपयोगितावादी सिद्धांतः— आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत व्यवहारिक एवं उपयोगितावादी पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया है। यहां व्यक्ति के कर्तव्यों को कुछ इस प्रकार से निर्धारित किया गया है कि संपूर्ण समाज का हित हो। धर्म के अंतर्गत भी कर्तव्य पथ पर विशेष जोर दिया गया है। गृहस्थ आश्रम में संपन्न किए जाने वाले पंचमहायज्ञ की सामाजिक दृष्टि से काफी उपयोगिता थी। व्यक्ति को परिश्रमी बनाने का प्रयास किया गया है। अर्थ को पुरुषार्थ मानकर धन कमाना व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया गया है परंतु यहां धन को केवल स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन न मानकर समाज हित का साधन मानने की बात कही गई है। आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति को सामाजिक कार्य करने एवं अपने त्याग की भावना विकसित करने का अवसर मिला है।

निष्कर्ष

यह एक निर्विवाद सत्य है कि व्यक्ति सभी आयु मे समान प्रकार के कार्यों का सम्पादन नही कर सकता। आश्रम व्यवस्था आयु के अनुसार कार्यों का एक वैज्ञानिक विभाजन प्रस्तुत करती है और इस प्रकार विभिन्न आयु के व्यक्ति से जो सर्वोत्तम सेवा प्राप्त की जा सकती है, उसे प्राप्त करने का प्रयास करती है। ब्रह्मचर्य जीवन ज्ञान और शक्ति के संचय का जीवन है। गृहस्थ जीवन मे आकार व्यक्ति इस संचित शक्ति का विभिन्न क्षेत्रों मे रचनात्मक सदुपयोग करता है। वानप्रस्थ के रूप मे वह इंद्रिय और मन को वश मे करते हुए अपने अनुभवों से समाज को संचालित करता है और संन्यास आश्रम मे आकार ज्ञान, तप और सेवा से जगत को आलोकित करता है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था जीवन के परस्पर संबंधित भागों का समनवित सर्वागीण चित्र प्रस्तुत करती है।

विभिन्न आश्रम, धर्मों के रूप मे समाज के सभी व्यक्तियों मे सहयोग और सद्भाव स्थापित करते है। ब्राह्माचारी के रूप मे शेष सब मिलकर व्यक्ति का विकास करते है, जो आगे चलकर गृहस्थ के रूप मे सबका पालन करता है। क्रियाशक्ति के क्षीण होते ही एक गृहस्थ गृहस्थ के रूप मे सबका पालन करता है। क्रियाशक्ति के क्षीण होते ही गृहस्थ अपने को संयमित कर अपने अनुभव, ज्ञान व सेवा से एक वानप्रस्थी व संन्यासी के रूप मे सबकी सेवा करता है।

आश्रम व्यवस्था एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि यह विभिन्न आयु वर्गों के बीच परस्पर सहयोग और सद्भाव का विकास करती है। अलग आश्रमों मे अलग कर्तव्य से बँधे होने से कुर्सी या अधिकार से चिपके रहने की प्रवृत्ति का उन्मूलन होता है। जब व्यक्ति की क्रियाशक्ति क्षीण हो जाती है तो उसे अधिकार और पद से पृथक होना ही चाहिए जिससे आने वाले व्यक्तियों को कार्य करने का स्वतंत्र अवसर उपलब्ध हो सके। जब व्यक्ति की कार्य क्षमता का ह्रास हो जाता है तब उसके पद से चिपके

रहने का अर्थ अधिकार और शक्ति के दुरूपयोग या दूसरों के शोषण से अधिक और क्या हो सकता है? ऐसी स्थिति मे वह क्रिया शक्ति से नही अपितु अनुभव शक्ति से समाज को लाभान्वित कर सकता है।

परिणामस्वरूप, व्यावहारिक जीवन से संबंधित समस्त पदों का परित्याग कर देना व्यक्ति का एक सामाजिक व नैतिक दायित्व हो जाता है। निश्चित रूप से ऐसी अवस्था मे अध्यापन, मार्गदर्शन और रचनात्मक सेवा कार्य ही व्यक्ति के जीवन के अंग हो सकते है। इसका यह अर्थ नही है कि बाद की आयु मे व्यक्ति का कोई सामाजिक प्रयोजन नही होता। समाज की प्रक्रिया तथा समाज के निर्माण मे वह प्रत्यक्ष नही अपितु अप्रत्यक्ष रूप से योग देता है।

संदर्भ

1. दामोदर धर्मानन्द कौसाम्बी, – प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1977, पृ0–52।
2. वामन पाण्डुरंग काणे– धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग 1 और 5) (लखनऊः हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश) क्रमशः अनुल्लिखित, 1973, 1975, पृ0–47।
3. स्मृति सन्दर्भ (चतुर्थ भाग–गौतम, बुद्ध गौतम, यम, लघुयम, वृहदयम, अरूण, पुलस्त्य, बुध, वशिष्ठ, वृहद्रयोगि याज्ञवल्क्य ब्रह्योक्त याज्ञवल्क्य संहिता, काश्यम, व्याध्रपाद स्मृति संहिता) कहलकत्ता : क्लाइव रो, 1953, पृ0–120।
4. (मनुस्मृति, 2:78)।
5. (बौधायन घ. सू. 10.1)।
6. महाभारत अनुशासनपर्व 161/5–6।